



पातञ्जल योगः

एक सार्वजनिक प्रवचन

विपश्यनाचार्य श्री सत्यनारायण गोयन्का

(योग सम्मेलन, जयपुर, १९८८)

विपश्यना विशोधन विन्यास

पातञ्जल योगः

एक सार्वजनिक प्रवचन

विपश्यनाचार्य श्री सत्यनारायण गोयन्का

[योग सम्मेलन, जयपुर, १९८८]



विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी

प्रकाशकीय

पातञ्जल योग पर प्रवचन का प्रारंभ सीधे इस कथन से होता है कि “यह विपश्यना योग ही है, जो भारत की बहुत पुरानी विद्या है”। इसका उल्लेख भारत के सबसे प्राचीन साहित्य ऋग्वेद में आया है। इसमें कहा गया है कि जो अन्तर्मुखी होकर भीतर के फैलते प्रपंच को साक्षी भाव से देखता है, वह विपश्यना करता है। पर समय बीतते-बीतते लोगों ने अभ्यास करना छोड़ दिया।

आज से छब्बीस सौ वर्ष पहले एक महापुरुष ने पुनः इस विद्या को खोज निकाला। उसने दावा किया कि सत्य वह है जो योगी की अनुभूति पर उतरा है। यह केवल इस अनुभूतिकर्ता के लिए सत्य है, दूसरे के लिये नहीं। वह स्मृति (सजगता) के सहारे क्षण-प्रतिक्षण प्रकट सत्य को देखता हुआ आगे बढ़ता है। महर्षि पतंजलि ने भी स्मृति (सजगता) का यही अर्थ किया है, स्वयं की स्मृति पराये की नहीं। कल्पना का भी सहारा नहीं। स्थूल सच्चाई की अनुभूति करते हुए सूक्ष्म की ओर बढ़ना, फिर सूक्ष्मतर, आगे सूक्ष्मतर। अविद्या का सारा क्षेत्र अनित्य है, दुःख है, अनात्म है और अशुचि भी है पर मोह के वशीभूत लोग इसे नित्य, सुख, आत्म और शुचि मान कर चलते हैं। जिसे लद्गो ग सुख समझते हैं वह भी वास्तव में दुःख ही है, और कुछ भी आत्मा नहीं, सब अनात्म है।

पर स्वयं तो अनुभव किया नहीं अद्रौर पराये अनुभव को मान लिया। मानने से काम नहीं चलेगा, जानना होगा, और जानने के लिये अनुभूति पर उतारना होगा। धर्म का विषय वाद-विवाद का विषय नहीं है, अनुभव का विषय है। ‘विसेसेन परस्सती’ति विपस्सना’। विशेष रूप से कैसे देखता है? विभाजन करके, टुकड़ा करके। आरम्भ में तो स्थूल और घनीभूत सत्य प्रकट होते हैं, पर देखते-देखते उनके टुकड़े होने लगते हैं। नियमित अभ्यास से एक समय ऐसा आता है कि पूरा शरीर तरंगों के प्रवाह में बदल जाता है, बड़ा आनन्द आता है। पर, यह आनन्द धोखा है यह तो अभी प्रारम्भ ही है, अभी बहुत दूर चलना है।

प्रारम्भ करते हैं शील-सदाचार, यम-नियम से। काया और वाणी से दूसरों को दुःख देने वाला काम नहीं करना। हम दूसरों को दुःख तो बाद में देते हैं, पहले अपने ही को देते हैं। शील-सदाचार का पालन करने से चित्त की एकाग्रता आती है। एकाग्र चित्त सबल और सशक्त होता है। वह काया के अंदर के परमाणुओं के उदय-व्यय को अच्छी तरह से देखता है। इसके लिये पुरुषार्थ और पराक्रम करना पड़ता है। पराक्रम यह कि मनचाही होने पर नाचने न लगे और अनचाही होने पर चिल्लाने न लगे। अनित्य बोध के आधार पर समता बनाये रखे।

स्मृति से तात्पर्य यहाँ स्मरण से नहीं है, बल्कि सजगता, जागरूकता से है और जब अनुभूतियों के आधार पर साधक जानता है, तो उसे कहते हैं प्रज्ञा। स्मृति और प्रज्ञा प्रायः साथ-साथ चलती हैं। इनका क्रमशः विकास होते चलता है। तब साधक मन के चार स्कन्ध— विज्ञान, संवेदना, संज्ञा और संस्कार के क्रिया-कलापों को धीरे-धीरे समझने लगता है। फिर महर्षि पतंजलि के शब्दों में हेय, हेय हेतु, हान और हानोपाय को साधने में जुट जाता है तथा काया (रूप) और मन के उपर्युक्त चार स्कन्धों की क्रिया-प्रतिक्रिया के प्रति सजग होने लगता है। मन सहित छहों इन्द्रियों के कार्यों को देखने में केवल देखने, सुनने में केवल सुनने.....के तात्पर्य को समझने लगता है और क्रमशः उन्हें पुष्ट करने लगता है। इस अनमोल विद्या से कल्याण ही कल्याण होता है पर वाणी विलास से नहीं, सुखासन पर बैठ कर मन से ही मन को साधने से होता है।

विपश्यना विशोधन विन्यास